Inspira- Journal of Modern Management & Entrepreneurship (JMME)
ISSN : 2231–167X, Impact Factor: 5.647, Volume 10, No. 03, July, 2020, pp. 289-292

प्राचीनकाल में शिक्षा का विकासः एक अध्ययन

डॉ. अजय कृष्ण*

iLrkouk

अपने विभिन्न क्षेत्रों में अर्जित थाती को संजोय रखने के लिए शिक्षा की आवश्यकता प्रत्येक समाज को पड़ती है। उस प्राचीन काल में भी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना अनिवार्य था। विभिन्न प्राचीन सभ्य देशों से लगभग भिन्न शिक्षा पद्धति भारत में प्रचलित थी। यहाँ प्रत्येक ब्राह्ममण का धर ही पाठशाला तथा प्रत्येक ब्राह्मण शिक्षक था।

ऋग्वेद में कहीं भी लिखने का उल्लेख नहीं किया गया है। वेद के मंत्र रटे जाते थे। विद्यार्थी द्वारा अध्यापक के कथित शब्दों की पुनरावृति का उल्लेख एक मंत्र में आया है। उच्चारण आदि पर अधिक ध्यान दिया जाता था। पाठ संबंधी नियम भी कुछ मंत्रों में दिये गये हैं और यह बतलाया गया है कि विश्वामित्र का वैदिक पाठ कितना प्रौढ़ था पर शिक्षा की प्रमुख पद्धति तप ही थी। तप का तपस्या द्वारा आत्मशिक्षण संभव हो सकता था। विद्यार्थी स्वयं ज्ञानअर्जन के लिए प्रयासरत करते थे और गुरू की सहायता आंशिक रूप से आवश्यक थी। विद्यार्थी के आत्मशिक्षण का प्रमाण हमें ऋग्वेद के अनेक मंत्रों द्वारा प्राप्त होता है। आत्मानुभूति के लिए विद्यार्थी तप करते थे जिससे वे मुनि, विप्र आदि पद को प्राप्त करते थे। ऋग्वेद में हमें कुछ ऐसे मंत्र भी प्राप्त होते हैं जिसमें पाठशाला भी कोई संस्था थी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है क्योंकि एक स्थान पर यह बताया गया है कि विद्यार्थी बादुरों की भंति पढ़ते थे।

उपरोक्त विवरणों में यह ज्ञात होता है कि शिक्षा का यह प्रारंभिक रूप भी अत्यन्त ठोस था। वैदिक मंत्रों को कंठाग्र किये बिना किसी प्रकारकाम चल ही नहीं सकता था। अतः उनके लिए दूसरी कोई शिक्षण पद्धति उपयोगी नहीं सिद्ध होती। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद तथा सनत कुमार का जो वार्तालाप दिया गया है, उससे ज्ञात होता है कि उन दिनों विभिन्न प्रकार के विषय पढ़ाये जाते थे। जिनमें देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, ज्ञातविद्या, नक्षत्रविद्या, देवजनविद्या, कल्प, श्राद्ध, तर्कशास्त्र आदि प्रमुख थे। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद से भी इतिहास उपनिषद् अनुव्याख्यान, व्याख्यान आदि की शिक्षा का बोध होता है।

शिक्षा समाप्त हो जाने के बाद गुरू शिष्य को उपदेश देता था कि वह सदा सच बोले, अपने कर्तव्य का पालन करे तथा वेद पढ़ते हुए गृहस्थ धर्म निभावे।

आज की भांति प्राचीनकाल में भी शिक्षा की उपयोगिता पर जोर दिया गया था। विद्यार्थी के शारीरिक एवं मानसिक विकास को साथ–साथ ले चलना ही गुरूओं का प्रमुख कर्तव्य था। इसी अभिप्राय से विद्यार्थी को अन्तेवासी (गुरूगृह में निवास करने वाला) या आचार्य कुलवासी कहा जाता था ताकि उसके पास रहकर शारीरिक श्रम करके, गुरू के घर–द्वार की रक्षा करके, उसके पशुओं को चराकर, वे अपने अवयवों को हष्ट–पुष्ट करते थे और साथ ही वे भावी जीवन की पृष्ठभूमि तैयार करते थे। उनके मानसिक विकास के लिए विभिन्न प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन कराया जाता था। निश्चय ही जो शिक्षा हमारे जीवन को पूर्ण बनावे, उसकी बहुमुखी उन्नति में सहायता दे, वह उच्च कोटि की शिक्षा कही जा सकती है। इतना ही नहीं उस आध्यात्मिक वातावरण में परलोक में सुख देने का भी कोई स्थान आवश्य होना चाहिए और वह साधन शिक्षा ही था।

* पूर्व शोधार्थी, समाज विज्ञान संकाय, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार।

भारतीय समाज में शिक्षा का स्वरूप अलग सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित था जिसमें व्यक्तित्व के उत्थान के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। भौतिक और आध्यात्मिक जीवन के निर्माण तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों का निष्पादन करने के लिए शिक्षा की अतिआवश्यकता थी। वास्तव में प्राचीन भारतीय मनीषियों को यह अच्छी तरह ज्ञात था कि समाज तथा मनुष्य का आध्यात्मिक तथा बौद्धिक उत्कर्ष शिक्षा के माध्यम से ही संभव है। शिक्षा से ही मनुष्य में ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए ज्ञानोदभव का आधार शास्त्र और विवेक को माना गया है। विद्या अथवा ज्ञान से ही मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है अथवा ज्ञान से ही मनुष्य की मुक्ति प्राप्त होती है अथवा मनुष्य शिक्षा में निपुणता प्राप्त करता है। मानव जीवन में विद्या का, शिक्षा का विशिष्ट स्थान रहता है। अज्ञानता को अंधकार के समान माना गया है। ज्ञान या विद्या को मनुष्य का तीसरा नेत्र बतलाया गया है जो उसे समस्त तत्वों के मूल को समझने योग्य करने के साथ ही सही कार्यों की तरफ प्रवृत होता है। अज्ञानी को वृषल कहा गया है निश्चय ही ज्ञान के अभाव में मनुष्य जीवन तथा जगत के रहस्यों का ज्ञान पाने में असमर्थ होता है। ज्ञान में मनुष्य को अमृत प्राप्त होते हैं। संसार की समृद्धि तथा अभीष्ट की प्राप्ति ज्ञान पर ही अवलम्बित है ज्ञान का आलोक मिमिराच्छित जीवन को प्रकाशमय कर देता है। यही मनुष्य को सन्मार्ग का अवलोकन भी कराता है ज्ञान के कारण जीवन की समस्त बाधाओं तथा कठिनाईयों का स्वतः विनाश हो जाता है। अतः जिसे ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध नहीं है वह नेत्रहीन है। शिक्षा से मनुष्य को जीवन संबंधी सिद्धान्तों तथा आचरणों को समझने में आसानी होती है तथा उसका शरीर और मन शिक्षा से ही परिष्कृत तथा पवित्र होता है। इसलिए यह अप्रतीम है।

विद्याा तथा ज्ञान से ही मनुष्य श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर सकता है तथा इसी से वह श्रेष्ठ माना जाता है। विद्या माता की तरह मनुष्य की रक्षा करती है पिता की तरह शुभ कार्य में सन्नद्ध करती है, पत्नी की तरह दुःखों को समाप्त करती है तथा कल्पलता की भांति प्रसन्नता प्राप्त कराती है।

शिक्षा से मनुष्य का जीवन समृद्ध होता है उसकी बुद्धि और प्रज्ञा सुदृढ़ तथा प्रांगल होती है। मनुष्य किसी दूसरी मनुष्य से बड़ा उस स्थिति में होता है जब उसकी बुद्धि और मस्तिष्क शिक्षा द्वारा तीव्र और उन्नत होते हैं। शिक्षा मनुष्य की निसर्गसिद्ध आकृतियों का सम्यक् विकास करके उसे सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाती है।

प्राकृत ग्रन्थ माला सप्तशती में शिक्षा 'शब्द' की उत्पति के मूल में शिक्षा विद्योपादाने धातु है। 'शिक्ष विद्योपादाने' धातु से 'अङ्' प्रत्यय से 'टाप्र्' प्रत्यय होकर 'शिक्षा' शब्द निष्पन्न होता है। 'शिक्ष्यते अनया इति शिक्षा' अर्थात् जिसके द्वारा वर्णादि के उच्चारण का ज्ञान हो। इसी का विकास की दृष्टि में शिक्षा सिक्ख, सिक्खति तथा सीखना स्वरूप विवेच्य काल में विद्यमान था। 'शिक्ष्यते विद्योपदृश्यते येवंति शिक्षा' अर्थात् प्राणी जिस साधन प्रणाली से ज्ञान उपार्जित करता है उसी का नाम शिक्षा है।

उद्देश्य एवं महत्व

शिक्षा के उद्देश्य अनेक है और इसलिए शिक्षा की उपयोगिता भी अत्यधिक है। 'उद्देश्य' शब्द 'उत' और 'दिश' शब्दों के योग से बना है जिसमें 'उत' का अर्थ है ऊपर की ओर तथा 'दिश' का अर्थ है दिशा दिखाना अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य का अभिप्राय है उच्च शिक्षा अर्जित करना। उच्च शिक्षा एक आदर्श स्थिति का द्योतक है जिसे सीमा में नहीं बांधा जा सकता है।

मानव जीवन के विशिष्ट उद्देश्यों जिनकी पूर्ति भारतीय संस्कृति का ध्येय था, को ध्यान में रखकर शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित किया गया था। प्राचीन काल शिक्षा को ज्ञान की साधना के रूप में वर्णित किया गया है। अज्ञानी को वृभष कहा गया है। ज्ञान को आत्मा का प्रकाश मानते हुए यह भी स्वीकार किया गया है कि मनुष्य का ज्ञान बाहर से प्राप्त नहीं होता बल्कि शिक्षा द्वारा ही उनकी अन्तर्निहित ज्ञानशक्ति को अभिव्यक्ति प्राप्त हुआ करती है। चित्त की एकाग्रता भी शिक्षा से ही प्राप्त होती है। वस्तुतः चित्त ही शिक्षा का वाहन है। भारतीय चिंतन में चित्तवृत्ति निरोध ही शिक्षा का स्वरूप माना गया है अर्थात् योग आधारित शिक्षा को ही यर्थाथ शिक्षा के रूप में मान्यता दी गयी है।

भारतीय संस्कृति में धर्ममूलक प्रवृतियों को प्रोरित करने वाले तत्वों के रूप में तप, दान, सरलता, अहिंसा तथा सत्यवचन की गणना की गई है। आचार्यकुल में रहते हुए परिचर्चा के नैतिक नियम का पालन करना, ब्रह्मचारी का धार्मिक व्रत था तथा अनुशासन का एक अंग भी। मनु के अनुसार शौच, पवित्रता, आचार, स्नान–क्रिया आदि अग्निकार्य तथा संध्योपासना ब्रह्मचारी का धर्म था। इसके साथ ही उसे धर्म के पालन में प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया था। जिससे कि उसका धर्मनिष्ठ, व्यवहारिक बना रहे। इस समय तक आते–आते अध्ययन व शिक्षा के तीन प्रमुख प्रयोजन या उद्देश्य बताये गये जिनका उल्लेख हारीत ने निम्न प्रकार किया है :–

"अध्यापनं च त्रिविधं धर्मार्थ चार्थ कारणात।।
सुश्रुषाकरणं चेती शिभिः पारिकीर्तितम्।।"

मनुष्य के चरित्र का उत्थान शिक्षा का दूसरा उद्देश्य था। इसके अन्तर्गत व्यक्ति नैतिक क्रियायें सम्पन्न करता हुआ सन्मार्ग का अनुकरण करता था। चरित्र तथा आचरण का इतना महत्व था कि समस्त वेदों का ज्ञाता विद्वान, सच्चरित्रता के अभाव में मान्य नहीं था किन्तु केवल गायत्री मंत्र का ज्ञाता पंडित अपनी सच्चरित्रता के कारण माननीय और पूजनीय था।

वस्तुतः सच्चरित्रता व्यक्ति का भूषण माना गया है आचार सम्पन्न और चरित्रवान व्यक्ति अभिनन्दनीय था। सम्पूर्ण विश्व के मानवों को चरित्र की शिक्षा भारत में अग्रणी विप्र के चरित्र से प्राप्त होती थी। विद्वान विप्रों के चरित्र से शिक्षा ग्रहण करने का निर्देश मनु ने भी दिया है। शिक्षा का यह उद्देश्य भारतीय संस्कृति में अप्रतीम है। भारतीय संस्कृति में चरित्र को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

बौद्धिक विकास

शिक्षा के माध्यम से मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष हाता था। विभिन्न प्रकार के संयमों और नियमों से मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता था। जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। शिक्षा प्राप्ति से ही व्यक्ति विभिन्न कर्तव्यों का पालन कर सकने में सफल होता था। उसके अन्दर आत्मसंयम, आत्मविश्वास, आत्मचिंतन, आत्मविश्लेषण, विवेक भावना प्रवति तथा आध्यात्मिक वृति का उदय होता था। आत्मविश्वास की भावना से ही व्यक्तित्व का समुचित रूप से विकास होता था। प्राचीनकाल में यह माना गया था कि शिक्षार्थी में आत्मविश्वास और उत्तरदायित्वों को आत्मविश्वास से ही सही ढंग से निष्पन्न किया जा सकता था। इसलिए ब्रह्मचारी में यह आत्मविश्वास जागृत कराया जाता था कि वह भावी जीवन की भयंकर कठिनाईयों में भी स्थिरमति रह सके। इसी विश्वास के साथ वह गुरू के सानिध्य में रह कर विभिन्न नियमों का पालन करता तथा अपने अद्भुत साहस का परिचय देता था। भविष्य के संकटमय जीवन को अनुकूल बनाने में ब्रह्मचारी का आत्मविश्वास ही सहायक था।

आध्यात्मिक विकास

शिक्षा के माध्यम से सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का उत्कर्ष होता है। शिक्षा से ही अतीत की संस्कृति वर्तमान में जीती है तथा पूर्व से चली आ रही परम्परा जीवन्त हो उठती है। अतः अपनी संतति को शिक्षा द्वारा ही शिक्षित करना और प्राचीन संस्कृति की ओर प्रवृत करना इसका मुख्य लक्ष्य था। वैदिक साहित्य तथा अन्यान्य विषयों की शिक्षा और प्रसार शिक्षा का प्रधान आधार था। वेदों का कंठस्थ करना तथा उन्हें यत्नपूर्वक मस्तिष्क में सुरक्षित रखना। प्राचीन काल में विद्यार्थी का यह प्रधान कर्तव्य था। साथ ही साथ यह आर्य संस्कृति का प्रधान उद्देश्य भी था। वेद वेदांगों को कंठस्थ करना उन्हें स्मरण करना ब्राह्मण का प्रधान धर्म था। सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन के लिए तीन ऋण चुकाने की अनिवार्यता मानी गयी है। प्रत्येक हिन्दू परिवार में इन तीनों ऋणों की सम्यक् रूपेण पूर्ति करना प्रधान कर्तव्य था। देव ऋण, ऋषि तथा पितृ ऋण से मनुष्य को मुक्त होना आवश्यक बताया गया था। इस प्रकार सांस्कृतिक जीवन के उत्थान में परम्पराओं को प्रचारित करने वाले निर्मित नये साहित्य में अतीत के जीवन के प्रति आकर्षण प्रतिबिम्बित होता है।

प्राचीनयुगीन शिक्षा के मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार भी था। अतः सभ्यता और संस्कृति के विकास का मूल आधार शिक्षा ही थी। उस समय शिक्षार्थियों को इस प्रकार की भी शिक्षा प्रदान की जाती थी कि वे अपनी साहित्यिक संस्कृति की सुरक्षा तथा व्यवसायिक परम्परा का संरक्षण कर सके। परिणाम स्वरूप राष्ट्रीयता संस्कृति की सुरक्षा को बड़ा बल मिलता था। जैसे परिवार में पिता अपने पुत्र को अपने व्यवसाय की शिक्षा देता था, ब्राह्मण वेदों को कंठस्थ करते थे तथा उसे अपने शिष्यों को भी कंठस्थ करा देना अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे, उसी तरह यह आवश्यक समझा जाता था कि वैदिक संस्कृति अध्यात्मवाद एवं भौतिकवाद का अद्भुत समन्वय है, क्योंकि मानव जीवन के लिए ये दोनों ही आवश्यक है। इसके विपरीत आधुनिक पाश्चात्य संस्कृत एकांगी है, क्योंकि यह केवल भौतिक उन्नति पर बल देता है।

यद्यपि बौद्ध शिक्षण संस्थानों एवं शिक्षा के स्वरूप पर विभिन्न विद्वानों ने समय–समय पर प्रकाश डाला है, फिर भी इस क्षेत्र में सामग्रियों की उपलब्धता के आधार पर पुनः ऐतिहासिक प्रस्तुति की आवश्यकता प्रतीत होती है। प्रस्तुत शोध लेख का उद्देश्य प्राचीन भारत में बौद्ध–शिक्षण संस्थाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उद्भव एवं विकास तथा सांस्कृतिक विकास क्रम में उनकी भूमिका पर प्रकाश डालने का एक लघु प्रयास है।

संदर्भ गन्थ सूची

- छान्दोग्य उपनिषद् 2/23/2,2/23/5
- विष्णुपुराण 6/5/61
- वायुपुराण 16/2
- नीतिशतक 16
- आर्यमिलः वेदांगप्रकाश, विशेषांक, 15.2.1968
- मनुस्मृति 2/69

♦❐♦